IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882
INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)
An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

आचार्य शिवनारायण विरचित ''काव्यादर्श–प्रसादिनी'' की समीक्षा

ज्योति रानी (शोध छात्रा) म0द0 वि0 (रोहतक)

आचार्य दण्डी विरचित ''काव्यादर्श'' संस्कृत– साहित्य की अमूल्य धरोहर है। जिसमें आचार्य दण्डी काव्यगत तत्वों अलड्.कारों आदि का सूक्ष्मता से विवेचन किया है। कालान्तर में संस्कृत साहित्य में 'काव्यादर्श' पर अनेक टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गई।

इन सब में सर्वाधिक प्राचीन और उपलब्ध टीका आचार्य रत्नश्रीज्ञान द्वारा विरचित ''रत्नश्री'' मानी जाती है। आचार्य शिवनारायण शास्त्री ने भी बीसवी सदी में काव्यादर्श पर ''प्रसादिनी'' नामक व्याख्या का प्रणयन किया, जिसके पाठ का आधार मुख्यतया 'रत्नश्री' को माना गया है। प्रस्तुत टीका के प्रारम्भ में आचार्य शिवनारायण ने स्वरचित चार श्लोकों को प्रस्तुत किया है जिसमें भगवान शंकर की स्तुति की गई है–

कविः कवित्वा दिवि रूपमासजद् गणेण्मतीनामुपमश्रवा ददिः।
धियं मदीयां स पुनातु दन्तिलः सुभूमिकां यद् रचयामि सत्प्रियाम्।।
स पादयोर्नूपुरजालभूषित उदारमध्योदर शोभितो मुदा।
प्रसन्नवक्त्राब्जविभातसुस्मितः सुदन्तखण्डाग्रवरोह सूज्ज्वलः।। 2
सुदिन्दुखण्डोज्ज्वभालभूषण उमाऽड्.कशच्चासुख लाभभासनः।
शिशुर्गणेशो मयि शोभनां दृशं सदा स धेयाद् भवसुनूरर्चितः।।3
श्रुतौ सुभाद्रे भृगुवासरे सिते वसौ युगे चाड्.ग्लतिधावगस्त्यके।
सभारभे दण्डिकृतेः प्रसादिनीं सुभूमिकां तामिह पूरयेदसौ।। 4

प्रसादिनीकार ने भूमिका भाग में 'ऋग्वेद में काव्यचिन्तन विषय' के अंतर्गत बताया है कि काव्य कवि के हृदय से उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से अद्भूत होता है जिस प्रकार जलधर से वृष्टि स्वतः जन्म लेती है और सरिताएँ स्वाभाविक रूप से बहती है–

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः
अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि।।
सम्यक् सृवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदामनसा पूयमानाः।।

ऋग्वेद में काव्यचिन्तम के पश्चात् आचार्य ने वेदाडों में काव्याचिन्तन, नाट्यशास्त्र में काव्यचिन्तन, काव्यशास्त्र का नाम, काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों (रसअलङ्.कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य) का वर्णन , आचार्य दण्डी का परिचय, स्थितिकाल, भामह से दण्डी की प्राचीनता सिद्ध की है और दण्डी का काव्य शास्त्र को योगदान के विषय में भी चर्चा की है।

भूमिका भाग के अतिरिक्त आचार्य शिवनारायण शास्त्री ने ''प्रसादिनी'' व्याख्या के अंतर्गत 'काव्य–मार्ग –विभाग' नामक प्रथम परिच्छेद की व्याख्या से पूर्व स्वरचित अनुष्टुप छन्दमेंनिबद्ध अष्ट (8) श्लोकों में मङ्.गलाचरण किया है जिसमे भगवान शिव की स्तुति की गई है, जिनमें से कुछ प्रमाण के रूप में इस प्रकार है–

स्तनमेकं सुसेनान्ये विघ्नेशाय तथाऽपरम्।
अर्पयन्तीमुमां याचे कृपापूर्णां दृशं मयि।।
विद्याक्षीर निधेरूत्थे कीर्त्यकीर्ती सुधाविषे।
कण्ठेकाल शिवस्तत्र सुधेच्छा विबुधा परे।।

प्रथम परिच्छेद में भाषा का महत्व आचार्य दण्डी ने इस प्रकार से बताया है–

इह शिष्टानुाशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।[7]

प्रस्तुत विषय की व्याख्या करते हुए आचार्य शिवनारायण शास्त्री कहते है कि यहाँ प्रयुक्त ''लोकयात्रा'' शब्द से लोगों का वैयक्तिक, कौटुम्बिक और सामाजिक आचार अर्थ अभिप्रेत है यथा– 'वर्णश्रमाचार–स्थिति–लक्षणत्वाच्च लोकयात्रायाः'।[8]

प्रसादिनीकार का विचार है कि भाषाओं के दो वर्गों के माध्यम से आचार्य दण्डी कवियों के दो वर्ग बताना चाहते है–

1. ऐसे व्युत्पन्न कवि जों प्रयत्न से उच्च वर्ग की भाषा में निपुणता पाकर व्युत्पन्न काव्य रचना करते हैं।

2. ऐसे कवि जो अनायास अधिगत मातृभाषा में अथवा अव्याकृत होने के कारण भावों की बारीकी को अच्छी तरह अभिव्यक्त करनें में असमर्थ भाषा में काव्य रचना करते हैं। दण्डी के समय को ध्यान में रखते हुए आचार्य शिवनारायण का मत है कि शिष्टानुशिष्ट वाक् से संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएँ तथा शिष्ट वाक् से अपभृंश आदि विकासोन्मुख भाषाएँ लेना उचित है, उस समय अभिजात वर्ग या उतम वर्ग की भाषा संस्कृत थी और प्राकृत माध्यम वर्ग की और शेष भाषाएँ अधम या अशिक्षित (निम्न) वर्ग की थी।

काव्यशरीर के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रसादिनीकार ने सप्रमाण यह विवेचन दिया है कि काव्य के स्वरूप के विषय में सर्वप्रथम चिन्तन ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, ऋग्वेदीय ऋषियों के मत में काव्य का आधार रमणीय शब्द है, जिसमें रमणीय अर्थ निहित है, इस रमणीय अर्थ को रत्न (रमणीय) स्वादमन् मधु शब्दों से कहा गया है– वाचं वाचं जरितू रत्निनीं कृतम्।

वस्तुतः यह मधु शहद से भी मधुतर है–

अगोरूधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वच

धृतात्स्वादीयों मधुनश्च वोचत।।

इसके पश्चात् प्रसादिनीकार ने भरत द्वारा मान्य काव्य–लक्षण पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है और अन्त में यह निष्कर्ष दिया है कि ऋग्वेद से प्रचलित और भरत द्वारा आदृत काव्य लक्षण स्पष्टतः काव्यादर्श अग्निपुराण और रसगंगाधर में उपलब्ध होता है।

आचार्य जैमिनी ने निबन्धन की पद्धति के आधार पर वेद को 1. ऋक् (पद्य) 2. यजु (गद्य) दो भागों में वर्गीकृत किया, अमर सिंह भामह ने भी यही दो भेद बताएं है, परन्तु प्रसादिनीकार का मत है दण्डी ने इस परम्परा में एक नया मोड़ दिया है और काव्य शरीर को तीन भागों में वर्गीकृत किया, 1. पद्य 2. गद्य 3. मिश्र।

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।

आचार्य शिवनारायण की दृष्टि में दण्डी के मत में दो विशिष्ट ध्यातव्य बिन्दु है–

1. त्रिधा कहकर आचार्य दण्डी ने परम्परा से प्राप्त द्विविधता का खण्डन किया और एवं 'ही' कहकर त्रिविधता पर ही बल दिया आगे चलकर काव्य–शास्त्र की परम्परा में दण्डी की इसी व्यवस्था को स्थान मिला है।
2. वैदिक परम्परा में पद्य का स्थान प्रथम था। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि के मुख से जब क्रौञ्च पक्षी के वध के दृश्य को देखकर शोक की जो रसमय अभिव्यक्ति हुई थी वह पद्य रूप में ही थी

यथा– मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।।

भरत में भी वृतनिबध (पद्य) और चूर्ण (गद्य) क्रम दिया है–एभिः शब्दविधानैर्विस्तार व्यञ्जनार्थ संयुक्तैः।

पदबन्धा कर्त्तव्याः वृत्तनिबन्धास्तु चूर्णावा।

अतः पहले पद्य काव्य और बाद में गद्य काव्य यह क्रम अधिक वास्तविक व मान्य था, परन्तु अमर सिंह और भामह ने अकारण ही इस क्रम को उल्टकर गद्य, पद्य कर दिया परन्तु आचार्य दण्डी ने इसे फिर से व्यवस्थित किया। अतः निबन्धन की पद्धति के आधार पर काव्य शरीर के तीन वर्ग आचार्य दण्डी को इष्ट है– पद्य, गद्य, मिश्र काव्य पर, भाषा के आधार पर काव्य के शरीर आदि विषयों पर विवेचन दिया है। 'काव्य के मार्ग और उनके गुण' विषय के अंतर्गत दण्डी ने पदावली को इष्ट अर्थ से व्यवछिन्न करने की दो शौलियों का वर्णन करके इस शैली से काव्य शरीन से शैलीगत दो भेदों का वर्णन किया है–

1. वैदर्भ 2. गौडीय–

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मः भेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भ– गौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ।।

दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के प्राण दस गुणों को बताया है गौड मार्ग में इनकी विपरीतता बताई है। प्रस्तुत प्रसंग में शिवनारायण शास्त्री ने भरत, भामह, वामन, उद्भट मम्मट, अग्निपुराण आदि के अनुसार व्याख्यात मार्गो का विवेचन प्रस्तुत किया है, उनके मतों का मूल क्या रहा हैं? किसके मत से कौन आचार्य कितना प्रभावित रहा है इन सभी का विशद–विवेचन किया है।

आचार्य शिवनारायण कृत प्रत्येक गुण के विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है– दण्डी के श्लेष, समता सुकुमारता और ओज गुण बन्धगत (शब्दगत) हैं। प्रसाद, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति और समाधि गुण अर्थगत है। माधुर्य गुण शब्दगत और अर्थगत दोनों हैं, ये गुण मार्ग–विशेष में शोभावह और दूसरे मार्ग में उसका विपर्यय शोभाविधातक होने के कारण ''विशेष अलडकार'' हैं शेष अलड्.कारों से भेद करने के लिए इन्हें 'गुण' कहा जाता है। प्रसादिनीकार के अनुसार दण्डी के पश्चात् गुणों अलड्.कारों पर एक अन्य दृष्टि से विचार विद्वत्समाज द्वारा किया गया– इस विषय से संबंधित दो मत प्रचलित हुए–

1. गुणों और अलड्.कारों का काव्य की घटक पदावली रूपी शरीर के साथ नित्य संबंध, जिसके संस्थापक आचार्य उद्भट हुए।
2. गुणो का तो शरीर और शौर्यादि गुणों के समान नित्य संबंध हैं किन्तु अलड्.कारों का अनित्संबंध है, प्रस्तुत मत के संस्थापक आचार्य वामन हुए जो आचार्य उद्भट के समकालीन थें।

आचार्य शिवनारायण के अनुसार भामह ने माधुर्य ओज , प्रसाद का किञ्चिद् विवरण किया है, उन्होंने माधुर्य ओज के भेदक धर्म के रूप में समास की अल्पता व बहुलता का कथन किया है , जिससे प्रेरणा पाकर वामन ने समास को भी रीतियों से जोडा है। आचार्य रूद्रट ने 'रीति' शब्द और उनके नामों का ग्रहण तो वामन से किया है, परन्तु उनकी विशिष्ट पदरचना को स्वीकार न करके भामह से प्रारब्ध तथा वामन द्वारा पदरचना के गुणातिरिक्त धर्म के रूप में स्वीकृत समास के भाव अभाव को रीतियों का व्यावर्तक धर्म माना हैं, उन्होने 'लाटीया' नामक एक अन्य रीति की उद्भावना करके कुल चार रीतियाँ मानी है।

रूद्रर ने गुणों को मान्यता प्रदान नहीं की है। इसी प्रकार प्रसादिनीकार ने आनन्दवर्धन, मम्मट, अभिनव गुप्त आदि के दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है।

''काव्यादर्श'' के 'अर्थालड्.कार' नामक द्वितीय परिच्छेद में पैंतीस (35) अलड्.कारों का विवेचन किया है, जिन पर आचार्य शिवनारायण ने पांच सौ पृष्ठों में व्याख्या की है, उनकी व्याख्या में कुछ विशिष्ट बिन्दु निम्न है–

1. अलड्.कारों का इतिहास वर्णन–

आचार्य शिवनारायण ने काव्यादर्श में वर्णित अलड्.कारों का ''प्रसादिनी'' नामक व्याख्या में इतिहास वर्णन दिया है जिसमें प्रसादिनीकार ने सप्रमाण यह विवेचन दिया है कि प्रस्तुत अलड्.कार का वर्णन सर्वप्रथम कहाँ उपलब्ध होता है? वहाँ पर अलड्.कार का लक्षण क्या हैं? शाब्दिक अर्थ क्या हैं? किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं? तत्पश्चात् अलड्.कार सम्प्रदाय के आचार्य यास्क, भरत से लेकर शोभाकर मित्र तक के सभी आचार्यों की सम्पूर्ण परम्परा में कहाँ पर और कैसे? कौन–से आचार्य ने अलड्.कार के लक्षण, अर्थ, उदाहरण में क्या परिवर्तन किया और परवर्ती आचार्यों ने उसे कितना सम्मान दिया आदि, और साथ–साथ स्वयं के दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है।

2. दण्डी के भेद विकल्पन का आधार–

आचार्य दण्डी ने कुछ अलड्.कारों का वर्णन करते समय उनके भेदों व , भेदों के विकल्पन के आधार को स्पष्ट या नही बताया है, आचार्य शिवनारायण ने उनके भेदों का अध्ययन करके आचार्य दण्डी के भेदों की कल्पना के आधार को प्रस्तुत किया हैं। उपमा, विरोध, ब्याज स्तुति इत्यादि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है।

3. अलड्.कारों के क्रम पर विचारः–

आचार्य शिवनारायण ने अलडकारों के क्रम पर भी स्थान स्थान पर विचार किया है, प्रसादिनीकार के अनुसार दण्डी ने अलड्.कारों का वही क्रम अपनाया है, जो भारत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है भरत व दण्डी प्रोक्त क्रम को वैज्ञानिक क्रम बताते हुए प्रसादिनीकार कहते है कि अर्थ की शोभा का अधिक विस्तार और महत्त्व होने के कारण भरत ने अर्थालड्.कारों का निरूपण पहले किया, दण्डी ने भी उन्ही का निरूपण करते हुए पहले अर्थालड्.कार, फिर शब्दालड्.कार और दोष निरूपण किया। भरत ने उपमा, रूपक, दीपक का क्रम अर्थ की स्फुटता के तारतम्य के आधार पर रखा है, उपमा में अलड्.कार उपमान में सादृश्य का अभिधान करके उपमेय के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। सादृश्य के कारण इस स्वरूपाख्यान में कुछ परोक्षता होती हैं, जो (परोक्षता) रूपक की अपेक्षा उपमा में कम होती परन्तु स्वभावोक्ति की अपेक्षा अधिक होती है, यही प्रयोजन है कि दण्डी ने स्वभावोकित को उपमा से पूर्व स्थान दिया और सभी अलड्.कारों में प्रथम बताया है। परन्तु भामह ने भरत व दण्डी के साभिप्राय क्रम को तोड़कर रूपक, दीपक, उपमा क्रम अपनाया। भामह के अनुयायी उद्भट ने भी यही क्रम अपनाया परन्तु वामन ने उपमा औररूपक के सापेक्ष महत्व को पहचाना और सादृश्य मूलक होने के कारण इन्हें उपमाप्रपञ्चक के अन्तर्गत माना।

प्रस्तुत विवेचन के अतिरिक्त प्रसादिनीकार ने प्रस्तुत अलड्.कार के उदाहरण में अन्य अलड्.कार का विवेचन, पाठ–भेद पर विचार, दण्डी प्रोक्त प्रयोगों में संसोधन आदि विषयों पर भी विवेचन दिया है।

आचार्य शिवनारायण ने काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद के नामकरण के विषय पर चर्चा की है, काव्यादर्श में 'दुष्कर' नामक तृतीय परिच्छेद को प्रसादिनीकार ने अपनी प्रसादिनी में '' शब्दालड्.कार–दोष–परिच्छेद'' नाम दिया है, जिससे परिच्छेद का सम्पूर्ण विषय प्रकट हो जाता है।

प्रस्तुत परिच्छेद के विषय यमक अलड्.कार उसके विभिन्न भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। चित्र अलड्.कार के संदर्भ में सर्वप्रथम चित्र शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है कि चित्र का व्यापक रूप में अर्थ–विचित्र, असाधारण है, बन्ध विशेष रूप चित्र अलड्.कार को आकार के कारण चित्र मान लिया गया। कालान्तर में जिन सुकर और दुष्कर चित्र (अद्भूत) शब्दालड्.कारों को जो यह संज्ञाविशेष थी, उनके लिए तो ' चित्र अलंड्.कार' नामक संज्ञा का प्रयोग बंध हो गया। यथा–यमक , प्रहेलिकाएँ तथा शेष के लिए चित्र का प्रयोग बन्ध या अलड्.कार के साथ सीमित हो गया। अतः कालान्तर में चित्र शब्द मुख्यतया आकार के सादृश्य वाले बंधों की सामान्य संज्ञा बन गया। इसी प्रकार प्रहेलिकाओं के विषय में भी प्रसादिनीकार ने विशद स्पष्टीकरण दिया है उनके मतानुसार आचार्य हेमचन्द्र ने दण्डी के दृष्टिकोण को अपनाते हुए सादृश्य और आश्चर्य हेतुता के कारण प्रहेलिकाओं के विषय को चित्रालड्.कार में माना, रूद्रट की दृष्टि को अपनाते हुए च्युत और गूढ का समावेश स्पष्टतः चित्र में किया, भोजा का समन्वय करने को प्रश्नोतर प्रहेलिका और दुर्वचक का भी चित्र में समावेश किया। परन्तु हेमचन्द्र ने प्रहेलिकाओं को च्युत, गूढ आदि से पृथक् रखकर प्राचीन परम्परा का अनुगमन किया, इस विषय में सभी विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करते हुए उन पर विशिष्ट व्याख्यान प्रसादिनीकार के प्राप्त होते है। [26]

दोषों के सन्दर्भ में प्रसादिनीकार ने निम्न निष्कर्ष दिया है–

भरत से प्रारब्ध परम्परा में दोषों के स्वरूप का जो निरूपण का काव्यादर्श में दण्डी द्वारा किया गया है, वही निरूपण भामह, वामन ने यथावत् स्वीकार किया है। आचार्य रूद्रट के 'विरस' की उद्भावना से दोष के स्वरूप में क्रान्तिकारी विकास हुआ। रूद्रट ने वामन के निरूपण के आधार में कुछ संसोधन करके दोषों को पद–वाक्य तथा अर्थ में आश्रित किया। आनन्दवर्धन ने रूद्रट प्रोक्त 'विरस' का विस्तार किया और रसभंग को दोष का आधार बनाया महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के निरूपण को आधार बनाकर दोषों की व्यवस्था को रसाश्रय किया, अग्निपुराणकार, भोज ने दोषों के स्वरूप में कोई विकास नही किया। काव्यप्रकाशकार ने आनन्दवर्धन और महिमभट्टानुसार दोषों को निरूपित किया एवं भेद विकल्पन को उन तक उपलब्ध पद, वाक्य, उभय और अर्थ के अतिरिक्त रस को दोष का आश्रय प्रस्तुत करके सुव्यवस्थित किया। [27]

निष्कर्ष–

आचार्य शिवनारायण ने दण्डी के मङ्गलाचरण से लेकर अन्तिम श्लोक तक गहनता से विचार किया है, भरत से लेकर शोभाकर मित्र तक की काव्य परंपरा को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आचार्य ने अपने कठिन परिश्रम के माध्यम से विभिन्न आचार्यों के दृष्टिकोणों को प्रत्येक विषय पर प्रस्तुत किया है, और उनके उचित –अनुचित पहलुओं पर विचार करते हुए स्वयं का मत भी प्रस्तुत किया है। कई स्थानों पर प्रसादिनीकार ने दण्डी के मतों में भी संशोधन किया है, परन्तु फिर भी बहुत से स्थानों पर यही दर्शाया है कि दण्डी का विवरण अर्थगाम्भीर्य व संक्षेपता लिए हुए है। स्थान स्थान पर विषय उपविषय का आरम्भ व अंत स्वरचित श्लोकों के माध्यम से किया है और आने वाले विषय का प्रारम्भ भी स्वरचित श्लोकों से की है। अन्त में ग्रन्थागत श्लोकों की अनुक्रमणी, विस्तृत संदर्भ ग्रन्थ सूची और स्वरचित प्रसादिनी मंङ्गल श्लोक सूची भी दी है।[28]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. काव्यादर्श प्रसादिनी भूमिका पृ0–1
2. काव्यादर्श प्रसादिनी भूमिका पृ0–1
3. ऋग्वेद– 9/94/1
4. ऋग्वेद– 4/58/60
5. काव्यादर्श प्रसादिनी भूमिका पृ0 2–44
6. काव्यादर्श प्रसादिनी मङलाचरण श्लोक 1,7
7. काव्यादर्श 1/3
8. कामसूत्र–1/2/31
9. काव्यादर्श प्रसादिनी पृ0 7–10
10. ऋग्वेद 1/182/4
11. ऋग्वेद 8/24/20
12. अग्निपुराण 337/7
13. रसगंगाधर 1/1
14. काव्यादर्श 1/11
15. वाल्मीकि रामायण 1/15
16. नाट्यशास्त्र 14/33, 18/50
17. काव्यादर्श 1/40
18. काव्यादर्श प्रसादिनी पृ0 94–102
19. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 1, पृ0 158–162
20. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 1, पृ0 167–168
21. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 2, पृ0 5–18
22. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 2, पृ0 22,333,376 आदि।
23. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 2, पृ0 11
24. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 2, पृ0 56
25. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 3, भू0 पृ0 6
26. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 3, पृ0 135–138
27. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 3, पृ0 226–229
28. काव्यादर्श प्रसादिनी भाग 3, पृ0 234–239